

Original Article

महात्मा फुले : साहित्यिक दृष्टि एवं शैली

डॉ. कृष्णा सिंह

पूर्व शोधार्थी, इतिहास विभाग,

वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

Manuscript ID:

JRD -2025-170142

ISSN: 2230-9578

Volume 17

Issue 1

Pp. 240-244

January 2025

Submitted: 02 Dec. 2024

Revised: 25 Dec. 2024

Accepted: 25 Jan. 2025

Published: 31 Jan. 2025

सारांश:

'तृतीय रत्न' अथवा 'तृतीय नेत्र' महात्मा फुले द्वारा लिखा गया (सन् 1855) पहला नाटक है। यह उनके ललित लेखन का पहला पहला प्रयास था। यह नाटक उन्होंने दक्षिणा प्राइस कमिटी के सामने प्रस्तुत किया, किंतु वहां उस पर कोई विचार नहीं हो पाया। संभवतः यही कारण है कि यह नाटक बहुत दिनों तक उपलब्ध ही नहीं हो पाया था। इस नाटक को लेकर यहां या अन्यत्र भी कहीं कोई चर्चा नहीं हो पाई। फिर भी इस बात पर सोचना जरूरी है कि इस नाटक को पढ़ते समय क्या महसूस होता है?

प्रस्तावना:

एक बात तो साफ है कि यह नाटक सर्वथा स्वतंत्र है। समाज की टीसती-रिसती वेदना को यह मुखर करता है और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह कि इसकी भाषा बड़ी ही सहज, सरल एवं प्राकृतिक है। तत्कालीन साहित्य, विशेषतः नाट्यसाहित्य की तुलना में प्रस्तुत नाटक पूरी तरह से अलग है। एक तरह से यह म. फुले की स्वतंत्र प्रज्ञा का अनोखा आविष्कार है। उल्लेखनीय है, उस समय जिस प्रकार के नाटक लिखे जा रहे थे, उनकी पृष्ठभूमि में इस नाटक की कई विशेषताएं तुरंत उभरकर सामने आती हैं। उस समय या तो नाटक संस्कृत से मराठी में अनूदित हुआ करते थे या फिर अंग्रेजी से। कभी-कभार अंग्रेजी नाटक से बीज लेकर भी नाटक रचा जाता था। अनगिनत बुकिश नाटक मनोरंजन प्रधान कथ्य को लेकर अवतरित हुए। कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में तो इस प्रकार की मनोरंजनपरक कथावस्तुओं की मानो भीड़ ही लगी हुई थी। इस भीड़ के लिए ही का. बा. मराठे ने 'कीड' (दीमक) शब्द का प्रयोग किया है। रंगभूमि के जनक के रूप में जिन विष्णुदास भावे की महिमा हम गाते हैं, उनके सारे नाटक 'ललित', 'दशावतार' आदि की नकलमात्र हैं। ये पौराणिक कथाओं का ज्यों का त्यों अनुकरण करने वाले हैं। मनोरंजन प्रधान बुकिश, पौराणिक एवं अनूदित नाटकों की भीड़ में स्वतंत्र सामाजिक चेतना से युक्त नाटक की रचना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण बात है। किंतु दुर्भाग्य है कि इस बात का महत्त्व जानने का प्रयास किसी ने भी नहीं किया। बावजूद इसके, इसकी अहमियत को स्वीकारना होगा और कहना होगा कि यह एक स्वतंत्र नाट्यरचना थी। खैर, इस नाटक के तुरंत बाद उन्होंने दो 'पंवाड़े' और एक दीर्घ काव्य लिखा। छत्रपति शिवाजी महाराज पर लिखे 'पंवाड़े' में इतिहास की ओर देखने का स्वतंत्र दृष्टिकोण उभर आया है। साथ ही पारंपरिक पंवाड़ों की तुलना में कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टि से इसकी भिन्नता और विशेषता दर्शनीय है। विशेष रूप से छत्रपति शिवाजी महाराज के महानिर्वाण के पश्चात् उनके परिजनों और सहयोगियों को हुआ शोक म. फुले ने अत्यधिक मार्मिकता के साथ रेखांकित किया है।



Quick Response Code:



Website:

<https://jrdrv.org/>

DOI:10.5281/zenodo.14965058



Access this article online

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the [Creative Commons Attribution 4.0 International](https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/), The Creative Commons Attribution license allows re-distribution and re-use of a licensed work on the condition that the creator is appropriately credited

Address for correspondence:

डॉ. कृष्णा सिंह, पूर्व शोधार्थी, इतिहास विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

How to cite this article:

सिंह, . कृष्णा . (2025). महात्मा फुले: साहित्यिक दृष्टि एवं शैली. Journal of Research & Development, 17(1), 240-244. <https://doi.org/10.5281/zenodo.14965058>

पंतोजी के संदर्भ में लिखे गए पंवाड़े में उच्चवर्गीय शिक्षक शूद्रातिशूद्रों को ज्ञानदान देते समय किस प्रकार टालमटोल करते हैं, इसका चित्र प्रस्तुत किया गया है, तो 'ब्राह्मणांचे कसब' (ब्राह्मणों के कौशल) में तत्कालीन पुरोहित वर्ग द्वारा हो रहे बहुजन समाज के शोषण को अंकित किया गया है। म. फुले द्वारा रचे गए 'अखंड' तो अत्यंत सटीक, मार्मिक एवं सूत्रमय शैली से युक्त हैं। विशेष बात यह कि जिस तत्त्वत्रयी 'स्वाधीनता, समता एवं बंधुता' का भविष्य में सम्मान किया गया, उसका आरंभ ही मूलतः म. फुले के 'अखंड' से हुआ है। अपनी कविता में वे बेहद सहजता के साथ जीवन के श्रेष्ठकर मूल्यों को स्वीकार करते हैं। 'अखंड', वस्तुतः अभंगसदृश रचना होती है जहां स्वतंत्र विचार एवं प्रतिभा के अनेक रंग बिखरे होते हैं। उनकी 'कुळबिणीचे गाणे' (कुलवती के गीत) जैसी कविता तो बस अविस्मरणीय है। साथ ही 'सार्वजनिक सत्यधर्म' के आरंभ में व्यक्त कविता तो योग्यता की दृष्टि से किसी सूक्ति से कम नहीं। लेकिन अफसोस कि म. फुले की कविता पर किसी ने गंभीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया। निःसंदेह इसके अपने कुछ कारण हैं, जैसे उनकी इस कविता से शोषकों का 'भेद' खुलता है। वैसे, मार्क की बात कहने वाली कविता उस समय की निश्चित रूप से बहुत बड़ी उपलब्धि है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि यह कविता अंतःप्रेरणा से प्रेरित होकर लिखी गई थी। उस समय जिस प्रकार की कविता लिखी जा रही थी, उसका स्वरूप विशेष उल्लेखनीय नहीं था। आधुनिक कविता भी बाल्यावस्था में ही थी। अतः अपने लिए वे या तो संस्कृत से आधार जुटाती थी या फिर अंग्रेजी कविता का अनुकरण करती थी। 'मुंगीवरील आर्या' (चींटी विशेष आर्या) जैसे बचकाने प्रयास भी होते रहे। आध्यात्मिक कविता अवश्य लिखी जाती थी, लेकिन उसकी सामर्थ्य बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। तात्पर्य यह कि म. फुले अपने समय के एकमात्र ऐसे कवि थे जो अंतःप्रेरणा से लिखते थे, जिनकी कविता सीधे हृदय से उत्पन्न होती थी और अपने समय का मंतव्य प्रकट करती थी।

अनुकरण के दौर में म. फुले की यह स्वतंत्र ललित साहित्य रचना निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। इस ललित साहित्य के साथ-साथ 'शेतकन्याचा असूड' (किसान का कोड़ा) जैसा प्रदीर्घ निबंध भी उन्होंने लिखा है। 'इशारा' जैसा निबंध भी मराठी निबंध साहित्य में अत्यधिक महत्त्व रखता है।

'गुलामगिरी' में उनकी विश्लेषण दृष्टि के दर्शन होते हैं तो 'सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक' में वे एक प्रौढ़ चिंतक के रूप में उभर आते हैं। यहां म. फुले के ललित एवं वैचारिक साहित्य का सरसरी तौर पर जायजा लिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उभरता है कि इतना समृद्ध साहित्य रचने वाले लेखक का 'साहित्यिक दृष्टिकोण' कैसा होगा? क्योंकि सारी उपेक्षा सहकर भी म. फुले जो लिखते रहे हैं, आजीवन लिखते रहे हैं, वह केवल अपनी विशिष्ट भूमिका व साहित्यिक दृष्टिकोण के कारण !

अपने साहित्यिक दृष्टिकोण को लेकर उन्होंने अपने विचार खुलकर व्यक्त नहीं किए हैं। हां, यह बात बेशक दर्ज की है कि वे सर्वसाधारण, सामान्य जन (आम आदमी) के लिए लिखते हैं। 'गुलामगिरी' के अंत में अलबत्ता वे इस बात को जरूर कहते हैं कि प्रस्तुत ग्रंथलेखन का उद्देश्य 'ब्रह्मपीड़ा से मुक्ति' है। पश्चात् उनकी तीन प्रतिज्ञाएं भी उनके लेखन की प्रेरणा एवं दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं। यथा—

- विषमता फैलाने वाले प्रत्येक ग्रंथ की मैं आलोचना करूंगा।
- इकतरफा मत-श्रेष्ठता का ढोल बजाने वालों की मैं आलोचना करूंगा।
- नीतिपूर्ण आचरण करने वाले व्यक्ति के साथ मैं वैसा ही सहृदयतापूर्ण व्यवहार करूंगा जैसा कि पारिवारिक सदस्यों के साथ किया जाता है।

यही वे तीन प्रतिज्ञाएं हैं। ये प्रतिज्ञाएं उनके अपने लिए तो थीं ही, साथ ही यह आशा भी थी कि भोली-भाली, शोषित एवं पीड़ित सामान्य जनता भी इन पर अमल करे, क्योंकि अगले ही परिच्छेद में वे 'पीड़ित शूद्र बंधुओं' से पत्र की उम्मीद करते हैं। तात्पर्य यह कि वे किनके लिए लिख रहे हैं, इस बात को लेकर उनके मन में कतई संदेह नहीं था। वे भली भांति जानते थे कि उनका लेखन शूद्रातिशूद्रों के लिए है। संभवतः इसीलिए वे सरल भाषा में लिखते हैं। सामान्य आदमी की सामान्य भाषा को उन्होंने अपने लेखन की भाषा के रूप में चुना, इसका उद्देश्य भी तो यही है।

वे जानते थे कि वे जनसामान्य के लिए, शोषितों के लिए, उनकी मुक्ति के लिए लिख रहे हैं। वे यह भी जानते थे कि जनसामान्यों को किन विषैले बंधनों से मुक्ति आवश्यक है। सैकड़ों वर्षों की ब्राह्मण गुलामी से शूद्रातिशूद्रों को मुक्त करना है, हजारों (भाकड़) 'बकवास' ग्रंथों का 'तिलस्म' सुलझाना है, इन बातों को लेकर भी उनके मन में कोई संदेह नहीं था।

इस संदर्भ में वे कहते हैं—

‘या ग्रंथाचा मुख्य उद्देश असा आहे की, आज शेकडो वर्षे शूद्रादि अतिशूद्र, ब्राह्मण लोकांचे राज्य झाल्यापासून सतत दुःखे सोशीत आहेत व नाना प्रकारच्या यातनेत आणि संकटात दिवस काढीत आहेत, तर या गोष्टीकडेस त्या सर्वांचे लक्ष लागून त्यांनी तिजविषयी नीट विचार करणे व येथून पुढे...’ (गुलामगिरी, प्रस्तावना, पृ. 129)

इसी ग्रंथ की अंग्रेजी प्रस्तावना में भी उन्होंने यही विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने कहा कि धार्मिकता की कोटि में आने वाले ग्रंथों ने शूद्रातिशूद्रों पर कठोरतम बंधन थोपे और उनका शोषण किया। उन्होंने इस शोषण से मुक्ति चाही। इसके लिए उन्होंने ‘मनुस्मृति’ से कुछ परिच्छेद उद्धृत किए हैं (पृ. 121)। मनुस्मृति की ही भांति कई ऐसे ग्रंथ हैं जो शोषण को बल प्रदान करते हैं। इन ग्रंथों को लेकर उन्होंने कई बार अपना मत व्यक्त किया है।

‘इशारा’ शीर्षक निबंध के आरंभ ही में उन्होंने एक दोहा उद्धृत किया है—

जिस तन लागे वही तन जाने।

बीजा क्या जाने गहारा रे॥

जाति व्यवस्था के पाटों में पिस चुकी जिस सामान्य जनता को म. फुले देख रहे थे, उन्हें तत्कालीन कितने साहित्यिक देख पाए? बाबा पद्मनजी, लोकहितवादी आदि दो-चार नाम इस संदर्भ में लिए जा सकते हैं। अन्य साहित्यिकों ने इस वास्तविकता को देखा भी हो तो उनका इस स्थिति से कोई वास्ता था ही नहीं। स्पष्ट है कि ये बातें उनके हृदय की टीस क्यों बनेंगी? किंतु म. फुले को यह टीस रात-दिन सालती रही। यही कारण है कि घोर उपेक्षा के बावजूद वे लिखते रहे। आसपास फैला दुःख ही उनकी प्रेरणा बना।

अर्थात् क्यों लिखना है, किनके लिए लिखना है और जो कुछ भी लिखना है, उन्हें ही लिखना है... ये तीनों बातें स्पष्ट थीं और इन्हीं बातों में से उनकी साहित्यिक दृष्टि एक आकार ग्रहण करती गई। उनके इसी साहित्यिक दृष्टिकोण का प्रखर एवं मुखर आविष्कार उनके न्यायमूर्ति रानडे के नाम लिखे पत्र में दिखाई देता है।

दूसरी ‘ग्रंथकार सभा’ का निमंत्रण आयोजक न्यायमूर्ति रानडे ने महात्मा फुले को भेजा था। चारों ओर से कसे जाने वाले फिकरे, उपेक्षा और उपहास के दौर में ग्रंथकार के रूप में निमंत्रण मिलना बड़ी अनोखी बात थी। इस सभा का आयोजक न्यायमूर्ति रानडे की बजाय कोई और होता तो शायद यह निमंत्रण भी न मिलता। चाहे जो हो, निमंत्रण तो मिला ही था, पर म. फुले ने निर्णय ले लिया था कि वे इस सम्मेलन में शामिल नहीं होंगे। म. फुले इस तरह का निर्णय लेने वाले अपने समय के एकमात्र साहित्यिक होंगे।

एक छोटे किंतु अत्यधिक व्यवस्थित और नई दिशा व दशा का शंखनाद करते एक पत्र की मार्फत यह निर्णय उन्होंने न्यायमूर्ति रानडे तक पहुंचाया। प्रस्तुत पत्र से म. फुले का साहित्यिक दृष्टिकोण तो उभरता ही है, साथ ही मराठी साहित्य की ओर देखने का एक नया दृष्टिकोण भी इसी पत्र से प्रारंभ होता है। यह पत्र नए युग का नया मंत्र सिद्ध हुआ। 11 जून, 1885 को श्ज्ञानोदयर् में प्रकाशित वह पत्र इस प्रकार है—

वि.वि. आपले ता. 13 माहे मजकुराचे कृपापत्रासोबतचे विनंतीपत्र पावले। त्यावरून मोठा परमानंद झाला। परंतु माझ्या मोठ्या घालमोठ्या दादा ज्या गृहस्थाकडून एकंदर सर्व मनुष्यांच्या मानवी हक्काविषयी वास्तविक विचार केले जाऊन ज्यांचे त्यांस ते हक्क त्यांच्याने खुशीने व उघडपणे देववत नाहीत, व चालू वर्तनावरून अनुमान केले असता पुढेही देववणार नाहीत, तसल्या लोकांनी उपस्थित केलेल्या सभांनी व त्यांनी केलेल्या पुस्तकातील भावार्थाशी आमच्या सभांचा व पुस्तकांचा मेळ मिळत नाही। कारण त्यांच्या पूर्वजांनी आमच्यावर सूड उगविण्याच्या इराद्याने, आम्हास दास केल्याचे प्रकर्ण त्यांनी आपल्या बनावट धर्मपुस्तकात कृत्रिमाने दडपले।

याविषयी त्यांच्यातील जुनाट खल्लड ग्रंथ साक्ष देत आहेत। यावरून आम्हा शूद्रादि अतिशूद्रास काय-काय विपत्ति व त्रास सोसावे लागतात, हे त्यांच्यातील उंटावरून शेळ्या वळणाऱ्या ग्रंथकारास व मोठ्या मोठ्या सभास्थानी आगांतूक भाषण करणाऱ्यास कोठून कळणार? हे सर्व त्यांच्या सार्वजनिक सभेच्या उत्पादकास जरी पक्क माहित होते, तरी त्यांनी फक्त त्यांच्या व आपल्या मुलाबाळांच्या क्षणिक हिताकरिता डोळ्यावर कातडे आढून त्याला इंग्रज सरकारातून पेन्शन मिळताच तो पुन्हा अतिशूद्रास नीच मानू लागलाय व आपल्या पेन्शनदात्या सरकारने बनविलेल्या कागदाच्या नोटीस सुद्धा सोवळ्याने बोट लावण्याचा विटाळ मानू लागला! अशीच का शेवटी ते सर्व आर्य ब्राह्मण या हतभाग्य देशाची उन्नती करणार! असो, आता यापुढे आम्ही शूद्र लोक, आम्हास फसवून खाणाऱ्या लोकांच्या थापांवर भुलणार नाहीत, सारांश, यांच्यात मिसळल्याने आम्हा शूद्रादि

अतिशूद्रांचा काही एक फायदा होणे नाही, याबद्दल आमचा आम्हीच विचार केला पाहिजे। अहो, जर त्या दादांना जर सर्वांची एकी करणे असेल, तर त्यांनी एकंदर सर्वमानवी प्राण्यांत परस्पर अक्षय बंधुप्रीती काय केल्याने वाढेल, त्याचे बीज शोधून काढावे व ते पुस्तकाद्वारे प्रसिद्ध करावे। अशा वेळी डोळे झाकणे उपयोगाचे नाही। याउपपर त्या सर्वांची मर्जी हे माझे अभिप्राया दाखल खोटे खानीपत्र त्या मंडळीच्या विचाराकरिता तिजकडे पाठविण्याची मेहरबानी करावी। साधे होके बुद्धे का येह पहिला सलाम लेव।

आपला दोस्त

जोतिराव गो. फुले

उपहास, व्यंग्य, स्पष्टोक्ति और बेबाक भाषा इस पत्र की प्रधान विशेषताएं हैं। म. फुले की शैली का यह विशिष्ट उदाहरण है। इसी पत्र से उनके व्यक्तित्व के कई पहलू भी उभर आते हैं, साथ ही उनकी साहित्यिक दृष्टि भी स्पष्ट होती है। उनकी दृष्टि से साहित्य तथा साहित्य-व्यापार में निम्न बातें **बड़ी महत्वपूर्ण हैं-**

1. मानवीय अधिकार समूचे साहित्य में बड़ी ही महत्वपूर्ण बात है।
2. मनुष्य की गुलामी ही वास्तविक चिंता की बात है और इस गुलामी से मनुष्य को मुक्ति दिलाना साहित्य का प्रमुख उद्देश्य होता है।
3. निजी जीवन में जाति-पांति का कट्टर समर्थन करना और सार्वजनिक जीवन में ग्रंथकारों की सभाओं में अकड़ते हुए घूमना उन्हें मंजूर नहीं था। बाह्य व्यापार व समग्र साहित्य सृजन में मनुष्य पारदर्शी एवं अखंड व्यक्तित्व धारण करें। इससे आगे बढ़कर कहें तो जाति-पांति में विश्वास करने वाला, छुआछूत मानने वाला, व्यक्ति उनकी दृष्टि में साहित्यिक हो ही नहीं सकता।
4. निजी जीवन और साहित्यिक जीवन भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, अतः इन दोनों में निहित भूमिका भी अभिन्न ही होनी चाहिए।
5. इस तरह के साहित्यिकों की सोहबत किसी प्रकार लाभदायक नहीं होती।
6. अक्षय भाईचारे का विकास करना किसी भी ग्रंथ का उद्देश्य होना चाहिए, इस बात की ओर से आंख मूंदना ठीक नहीं।
7. ये सारी बातें तथाकथित समता के ढोल बजाने वालों और सभा-सम्मेलनों में भाषणबाजी करने वालों से संभव नहीं हैं। अतः शूद्रातिशूद्र लेखकों को ही अपना एक अलग रास्ता बनाना होगा और उस पर चलना होगा।

मोटे तौर पर ये वे बातें हैं जो इस पत्र से ध्वनित होती हैं। इन्हें देखकर ही संकेत मिलता है कि स्वाधीनता, समता, बंधुता और सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों का साहित्य के द्वारा व्यापक स्वीकार हो। म. फुले यह कहने से भी नहीं चूकते कि जाति-पांति, छुआछूत और गुलामी का निषेध करना साहित्यिक का परम कर्तव्य है।

साहित्य में, व्यवस्था में जिनके हित निहित हैं, वे इन बातों से सहमत होंगे ही नहीं, अतः जिनकी इन मूल्यों में आस्था है, उन्हें अपनी स्वतंत्र राह चुननी चाहिए। इस तरह फुले मात्र कहते नहीं बल्कि स्वयं उस पर अमल करते हैं। वे लिखते हैं, बिना किसी की परवाह किए लिखते हैं। फिर यह राह समय के अंतराल में क्रमशः स्पष्ट होती गई। कृष्णराव भालेकर, ताराबाई शिन्दे, कर्मवीर वि. रा. शिन्दे, लोखंडे, डॉ. आंबेडकर, जवलकर आदि लेखकों की लेखनी ने इस राह को अत्यधिक सुस्पष्ट बना दिया। 1960 के बाद समाज से रिश्ता कायम करने वाले जो नए साहित्यकार जन्मे उन्होंने तो इस राह को एक परिपाटी ही बना दिया।

इन अनोखी साहित्यिक प्रेरणाओं और साहित्यिक दृष्टि के कारण एक नया 'जोतिपर्व' आरंभ हुआ।

म. जोतिबा फुले की शैली उनके व्यक्तित्व की भांति ही हो, यह बहुत ही स्वाभाविक है। बेबाक एवं साफगोई से भरपूर उनकी शैली अंततः सत्यान्वेषण की ओर जाती है बल्कि कहना होगा कि सत्यान्वेषण ही उसका मूल उद्देश्य रहा है। उनकी शैली में उनकी प्रेरणाएं एवं साहित्यिक दृष्टि बरबस झलकती नजर आती है। इसी कारण शायद वह दमदार है। अपने समय के लेखकों की लेखन शैली से बिलकुल 'हटकर' है। उनकी शैली अपने समकालीनों की भांति कभी अलंकारों के बोझ तले नहीं दबी, न ही कभी उसमें दृष्टांत-उपमाओं की भरमार पाई गई। लेकिन विचार को संप्रेषित करने में वह न कभी डरी, न झिझकी। स्वयं को समकालीन अभिरुचि की छाया से धूमिल होने से रोकना अपने आप में बड़ी कठिन तपस्या है। म. फुले ने बहुत सहजता से इस तपस्या को साधा है। छटपटाहट के बल पर उन्होंने यह करामात कर दिखाई। इसी छटपटाहट के कारण सामान्य भाषा व बोली का प्रयोग वे करते रहे हैं।

बोली का प्रयोग करने की एक लंबी परंपरा हमारे यहां है। महानुभाव संप्रदाय के सारे संस्कृत पंडित संस्कृत में नहीं लिखते प्रत्युत मराठी में लिखते रहे हैं। केवल मराठी में ही नहीं बल्कि जनसामान्यों की बोली में लिखते रहे हैं। म. गौतम बुद्ध ने भी अपने विचार पाली में ही व्यक्त किए थे। इसी भाषा का प्रयोग उन्हें श्रेयस्कर एवं लोककल्याणकारी लगा था। ऐसा तभी लग सकता है जब जनसामान्य के लिए मन में छटपटाहट हो। यह छटपटाहट जिनमें होती है वे पांडित्यपूर्ण भाषा का आडंबर नहीं रचते। म. फुले, गौतम बुद्ध, महानुभाव आदि की कोटि में स्थान रखते हैं। चूंकि उनके मन में जनसामान्य के लिए आस्था है, इसी कारण वे जनसामान्यों की बोली को अपनी भाषा के रूप में स्वीकारते हैं। यह बोली उनके चिंतन-आवेग में कहीं बाधक नहीं बनती, यह बड़ी ही विशेष बात है। इतना ही नहीं बल्कि सीधी-सादी, सरल एवं जनसामान्य की बोली इतनी शानदार रूप धारण कर सकती है, चिंतन का सामर्थ्यवान विस्तार झेल सकती है, यह अफलातून करामात केवल म. फुले जैसे लेखकों के लेखन में ही संभव है और यही कारण है कि आज सैकड़ों सालों के बाद भी पाठक यह महसूस करते हैं कि अपने शब्द-शब्द के माध्यम से म. फुले मानो हमसे संवाद कर रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ :

1. रामबाबू ज्योति : सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत महात्मा ज्योतिबा फूले, साहित्यागार, जयपुर, 2007
2. डॉ. मु. ब. शाह : भारतीय समाज क्रांति के जनक महात्मा ज्योतिबा फूले, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
3. महात्मा फूले : समग्र वाङ्मय; संशोधित चौथी आवृत्ति, सं. य. दि. फड़के
4. मजूमदार : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1948
5. रमेशदत्त : दि इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन विक्टोरियन एज
6. नागनाथ कोत्तापल्ले : जोतिपर्व, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012